होता है, और परिणाम में यदि वह सफल हुआ तो, मूर्त वास्तविक मानवीय व्यक्तित्व में रूपान्तरित होता है जिसे कदाचित् कला की चरितार्थ कृति के रूप में देखा और समझा जाता है। वह एक कारण है कि जब हम किसी सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तित्व के समक्ष आते हैं तभी समस्त प्रश्न समाप्त हो जाते हैं एवं वह व्यक्ति अपने आप में अपना औचित्य प्रतीत होता है और किसी सीमा में जगत् का औचित्य भी। लगभग इसी से मिलते-जुलते अर्थ में, कलाकृति स्वयं अपना औचित्य प्रतीत होती है और साथ ही किसी सीमा में उस जगत् को औचित्य प्रदान करती है, जिसमें हम अपने आप को पाते हैं। कल्पना का सत्य मानव जीवन का सत्य है एवं जो कोई इसकी अवहेलना करता है वह अपने चारों ओर जिस अमानवीय जगत् को देखता है उसी के सदृश बन जाने का जोखिम उठाता है।

❑

स्वपूरित भविष्य कथन एवं समाज का स्वरूप

स्वपूरित भविष्य कथन जिसे मरटॅन ने 1957 में प्रतिपादित किया था ऐसी विषय घटना प्रपंच (Phenomena) से सम्बन्धित है, जिसका समाज वैज्ञानिकों को भलीभांति ज्ञान होने पर भी उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना दिया जाना था। मेरा ख्याल है कि उसका एक कारण मरटॅन द्वारा उस सम्प्रत्यय को रूपायित करने के तरीके में है। वह लिखता है, "स्वपूरित भविष्य कथन प्रारंभ में किसी स्थिति की मिथ्या परिभाषा है जो एक नवीन व्यवहार को प्रेरित करती है, जो मिथ्या सम्प्रत्यय को सत्य बना देता है।'' (P. 423) यह स्वयं मरटॅन के मत में टामस थ्योरम का रूपायन है जो इस प्रकार रूपायित की गई है कि "यदि मनुष्य स्थितियों को यथार्थ परिभाषित करता है तो अपने परिणामों में वह यथार्थ होती है।''(P. 421)

स्पष्टत:, 'टामस थ्योरम' व्यक्त रूप से यह कथन नहीं करती है कि वह स्थिति जिसे मनुष्य यथार्थ परिभाषित करता है वह वास्तव में वैसी है या नहीं। लेकिन इस थ्योरम में यह निहित है कि वह स्थितियाँ जिनके लिये यह थ्योरम लागू की जाती है केवल वहीं है जहाँ परिस्थिति की यह पूर्वमान्य परिभाषा वस्तुत: असत्य होती है। इस अर्थ में मरटॅन का रूपायन इसी रूप में माना जा सकता है कि वह जो 'टामस थ्योरम' में निहित रूप में है उसे केवल व्यक्त रूप देती है। जहाँ पर लेकिन, 'नवीन व्यवहार प्रेरित' करने का प्रश्न है 'जो यथार्थ परिणामों से सम्बन्धित होता है', वहाँ स्थितियों की उन परिभाषाओं में जो मिथ्या है अथवा जो सत्य घटित होती है, के बीच कोई भेद प्रतीत नहीं होता। मरटॅन के रूपांकन पर यह अंकुश केवल उन्हीं अध्यायों पर है जहाँ स्थितियों की परिभाषा जो मिथ्या घटित होती है, अत:, विषय के विश्लेषण को अनुपयुक्त दिशा देती प्रतीत होती है।

मरटॅन ने स्वयं यह नोट किया है कि इस प्रकार की स्थिति प्रकृति-जगत् के सन्दर्भ में किये गये भविष्यकथनों में नहीं मिलती है। (सिवाय मनुष्य द्वारा प्राकृतिक प्रपंच के प्रौद्योगिकी के रूपांकन से) (P. 429), लेकिन उसने स्वयं ने इन भेदों जो एक तरफ प्रकृति जगत् की स्थितियों की भविष्यवाणी एवं दूसरी ओर सामाजिक सत् के जगत् के बीच के कारणों की तह को जानने का प्रयास नहीं किया। यदि वो ऐसा करते तो वह यह पता कर पाते कि जो भेद इन तथ्यों से

निगमित होता है कि हम प्रकृति के बारे में जो सोचते हैं वह केवल प्रौद्योगिकी को छोड़कर किसी रूप में प्रकृति पर कोई असर नहीं डालता। इससे हमें यह स्वतन्त्रता मिलती है कि प्रकृति के विषय में हम कोई भी प्राक्कल्पना निश्चय बनायें। कारण यह है कि हमें जिस घटना के लिये हम प्राक्कल्पना बना रहे हैं वह वही रहेगी जो वह है एवं उससे कभी प्रभावित नहीं होगी जो हम उसके बारे में सोचते हैं या मानते हैं। प्रकृति का जगत् तत्वत: अचेतन है फलत: वह किसी भी असर से अप्रभावित रहती है केवल उसके जो विशुद्ध रूप में अपने स्वरूप में भौतिक है।

दूसरी ओर, मनुष्यों का जगत्, उन सत्ताओं से निर्मित होने से अपने बारे में तथा अन्यों के बारे में जो स्वयं में चेतन है संभावित रूप से उन घटकों से प्रभावित होता है और असर लेता है जो शुद्ध भौतिकी से पृथक है। जो इसके बारे में विचारा एवं माना जाता है, उसका इसे बोध होता है और यह बोध मात्र उसे किसी दिशा विशेष में प्रभावित करता है, असर डालता है। एक चेतन प्राणी, चेतन होने के कारण, वह उस विचार से अप्रभावित एवं तटस्थ नहीं रह सकता जो उसके विषय में सोचा गया था अथवा कल्पित किया गया था। अत:, प्रकृति जगत् एवं सामाजिक जगत् के बीच भेद एवं जिसे मरटॅन ने 'मानवीय सम्बन्धों का जगत्' कहा है उस आत्म चेतना की क्षमता होने या नहीं होने, जो उससे सम्बन्धित है, जो उसके अध्ययन का विषय है, पर आधारित है। विषय के बारे में कल्पना करने या विचारने के तरीके से विषय को प्रभावित होने की संभावना होना आत्मघाती भविष्य कथन[1] (Prophecy) एवं स्वपूरित भविष्य कथन दोनों का हृदयस्थ विचार है। यह तथ्य कि पूर्व कथन संप्रेषित होने, ज्ञात होने, एवं अन्यों द्वारा विचारित होने पर पूर्व कथन पूरित होता है या नहीं इस विषय में अप्रासंगिक हैं। यह विचार इस प्रश्न पर आधारित है कि क्या सामाजिक यथार्थ क्या उससे आत्यन्तिक रूप में भिन्न है जिसे प्राकृतिक विज्ञानों में अध्ययन किया गया होता है ताकि प्राकृतिक विज्ञानों की अभियुग्मात्मक-निगमनात्मक-सत्यापनात्मक पद्धति अप्रमाणित ठहरे। इस महत्वपूर्ण पहलू को मरटॅन ने अपने ध्यान में लाये विषय में नजर अन्दाज किया, संभवत:, उस पद्धति के कारण जिसे उसने, इस विषय को समझने तथा रूपायित करने में अपनाया। वह यह स्वीकारते प्रतीत होता है कि सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित स्थितियों की सत्य-असत्य परिभाषा होती है उससे मनुष्य अलग भी, जो उसके विषय में सोचता है या विश्वास करता है एवं यह कि उसका निर्धारण एवं ज्ञान इस बारे में उसके विचार तथा विश्वास के बिना भी संभव है।

1. आत्मघाती भविष्य कथन उस भविष्य कथन के रूप में परिभाषित होता है जो संभवत: प्रारंभ में सत्य स्वीकृत कर लिया जाता है लेकिन वह कथन करने के बाद ऐसे व्यवहार को प्रेरित करता है जो प्रारंभिक सत्य बोध को असत्यता में परिवर्तित कर देता है।

और यह भी कि इस सन्दर्भ में सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों के बीच कोई अनिवार्य भेद नहीं है। लेकिन विचार कम से कम यह प्रकट करे कि जिस हद तक कोई स्थिति प्रमुख रूप से 'सामाजिक' होती है, यह तो हो ही नहीं सकता।[1] यदि यह स्वीकार किया जाता है कि अपने समस्त विचारों एवं विश्वासों के साथ चेतना सामाजिक यथार्थ का घटक होती है तब ऐसे यथार्थ का उसके तमाम विश्वासों से स्वतंत्र होना कठिन लगता है। मरटॅन उनमें से एक नहीं है जो पद्धति मूलक एवं सत्तामूलक कारणों से चेतना की यथार्थता एवं प्रभावशीलता को अस्वीकारते हैं। अन्यथा, वह स्पष्ट रूप से सामाजिक विज्ञान में 'स्वपूरित' अथवा 'आत्मघाती' पूर्व कथनों की बात नहीं करता होता। लेकिन यदि सामाजिक यथार्थ के सृजन में विश्वासों की प्रभावकारी भूमिका स्वीकार की गई होती तब यह प्रश्न कि उस यथार्थ के सन्दर्भ में उस वाक्य को सत्य कहने का ठीक-ठीक अर्थ क्या होता, यह पूछना पडता या अन्वेषण करना पडता।

जहाँ 'विश्वास' या कहें, चेतना जिस प्रकार स्थिति की कल्पना करती है उसका अन्तरंग घटक होती है, तब स्थिति के उस रूप से जिसमें उसे कल्पित किया गया है, स्वतन्त्र होकर उसके सत्य की बात करना कठिन होता है। मरटॅन का स्वयं का 'सामाजिक आख्यान' का वर्णन दो दृष्टियों के बीच झूलता नजर आता है जो कम से कम प्रथम दृष्टया परस्पर असंगत प्रतीत होती हैं। वह लिखता है, 'बैंकों की स्थायी वित्तीय संरचना स्थितियों के एक प्रकार की परिभाषाओं पर निर्भर करती है। उन आर्थिक वायदों के परस्पर अन्तर्व्याप्त तन्त्र की वैधता पर विश्वास, जिनके सहारे व्यक्ति जीता है, एक बार जमाकर्ता परिस्थितियों को अन्यथा रूप में परिभाषित करें, एक बार यदि वे इन वायदों के पूरित होने की संभावना पर प्रश्न चिह्न लगायें, तब इस अवास्तविक (रेखांकन) परिभाषा के परिणाम वास्तविक होंगे।' (Merton P. 422) लेकिन यदि परिभाषाओं का एक प्रकार बैंक के वित्तीय ढाँचे का *अनिवार्य घटक* उस सीमा तक होता है कि बैंक उस पर 'आश्रित' होता, तब यह किस प्रकार से माना जा सकता था कि ढाँचा अपरिवर्तनीय रूप में तब भी वही रह सकता है जब परिभाषा बदल गई होती है? यदि कोई विशिष्ट परिभाषा किसी ढाँचे में स्वयं एक 'संरचनात्मक घटक' के रूप में प्रवेश कर जाती है, तब किसी विपरीत परिभाषा को 'अवास्तविक' कहने का क्या संभव अर्थ हो सकता है? कोई परिभाषा तभी 'सत्य' या 'असत्य' मानी जाती है जब यह माना जाता है कि वह उस स्थिति की वर्णन कर रही है जो उससे स्वतन्त्र है।

1. इस पर आपत्ति की गई है कि प्रकृति जगत् एवं विचार जगत् के बीच द्वैतता एक आधारभूत कोटिगत भेद की ओर ले जाता है। जो भेद यहाँ इंगित किया गया है वह उस भेद से सम्बन्धित है जो प्रकृति विज्ञान में अध्ययन के विषय एवं सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन के विषय के बीच होता है। ऐसा अन्तर जो उस विषय से चिह्नित होता जो स्वयं स्वपूरित पूर्व कथनों से वर्णित होता है।

मरटॅन इसके जबाव में यह कह सकता है कि परिभाषा को 'अवास्तविक' कहने से वह केवल यही समझता है कि बैंक की 'वास्तविक' वित्तीय परिस्थितियाँ इस प्रकार की थीं कि वित्तीय प्रतिबद्धता को पूरा करने की योग्यता में अविश्वास अप्रासंगिक था। आखिरकार वास्तविक परिस्थिति उस अनुपात में जो देनदारियों तथा जो पास में है, उनके बीच होती है, तथा किसी एक दिन होने वाले लेन-देन में पैसा निकालने की औसत माँग को पूरा करने के निमित्त पास की सम्पत्ति तथा उपलब्ध धन की सापेक्ष प्रवाहमानता में होती है। किन्तु यह सब यदि अपने आप में वित्तीय ध्वंस से बैंक को बचाने में सक्षम नहीं है। बैंक के अधिकतम ग्राहकों के उसकी वित्तीय दृढ़ता में विश्वास के बिना लोगों की स्थिति में विश्वास से पृथक करके वित्तीय स्थितियों को परिभाषित करना भ्रामकता है। मरटॅन स्थिति में विश्वास को आश्रित चर के रूप में चाहता है, किन्तु वह जानता है कि ऐसा नहीं है। यही, अधिकतम संभाव्य रूप से उस घटना की निश्चित सार्थकता के बारे में उसके अनिश्चय का कारण हो सकता है, जिसकी वह चर्चा करता है।

मरटॅन के द्वारा वर्णित संभावना के विरोध में कल्पित संभावना के द्वारा ऐसी परिस्थिति की संरचना में विश्वास की स्वतन्त्र संगठनात्मक भूमिका को ग्रहण किया जा सकता है। बैंक की स्थिति में तथाकथित वास्तविक परिस्थिति शायद उससे बहुत दूर होती है जो वित्तीय रूप में अतिउत्तम मानी जाती है। यद्यपि बैंक की वित्तीय विश्वसनीयता में विश्वास सन्तोषजनक रूप से व्यापी है एवं नैरन्तर्यता बनाये हुये है तब बैंक के दिवालिया होने की संभावना बहुत कम होती है। अतः, यहाँ, वास्तविक स्थिति एवं उस निष्कर्ष में कोई सह सम्बन्ध नहीं है जो स्थिति के विषय में लोगों के विश्वास से स्वतन्त्र है विश्वास के वास्तविक एवं अवास्तविक होने का प्रश्न, मरटॅन के वाक्यांश का प्रयोग करें तो इस स्थिति में नितान्त अर्थहीन है।

एक अर्थ में यह भी माना जा सकता है कि वास्तव में ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। तथाकथित वास्तविक स्थिति उन परिणामों को पूर्व व्याप्त ढंग से निर्धारित करती है। चाहे ऐसा केवल दीर्घकाल में हो। स्थिति की 'अवास्तविक' परिभाषा के कारण बैंक से जमा पूंजी निकालने के प्रति भीड भले ही हो परन्तु अपने दायित्वों को पूरा करने की बैंक की योग्यता जमाधारियों में एक प्रति-विश्वास को जन्म देती है और इस प्रकार उनके 'अवास्तविक' विश्वास के कारण आने वाले दिवाले के संकट से बैंक को बचा सकती है। इसी प्रकार, बैंक की वास्तविक स्थिति के नाजुक होने पर भी उसकी वित्तीय वांछनीयता (क्षमता) में 'विश्वास' उसे कुछ समय के लिये बचा ले, परन्तु देर सवेर में अपने दायित्व निर्वाह की अक्षमता का पता चल जायेगा फलतः वह स्थिति उत्पन्न होगी जिसे बहुसंख्यक लोगों के 'असत्य' विश्वास ने सहभागिता से थोडे समय के लिये बचा लिया था।

फिर भी, इन दोनों ही स्थितियों में 'विश्वास' उस स्थिति का संरचनात्मक घटक नहीं रहता चाहे उस पद से किसी भी विशिष्ट अर्थ को लें।

किसी सामाजिक घटना या व्यापार को, वस्तुतः, उस हद तक मापा जा सकता है जिसमें विश्वास अथवा जो कुछ चेतना स्थिति के बारे में मानती है, वह उसका संरचनात्मक घटक हो। मुश्किल से ऐसी कोई सामाजिक स्थिति होती है जहाँ उसकी संरचना में विश्वास की किसी न किसी हद तक सार्थक भूमिका न हो। यदि ऐसा नहीं होता, तब यह स्थिति, पारिभाषिक रूप से, किसी ऐसी स्थिति में परिवर्तित हो जाएगी जिसका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान में होता है। यह उन लोगों के लिये स्वागत योग्य हो सकता है जो प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञानों में किसी प्रकार का मौलिक भेद को स्वीकारना नहीं चाहते। लेकिन साथ ही वे मरटॅन द्वारा 'स्वपूरित' एवं 'आत्मघाती' भविष्य कथन के रूप में वर्णित सामाजिक घटनाओं को भी नहीं स्वीकारेंगे। अथवा यदि वे इन्हें स्वीकारते भी तो भी, वे मरटॅन द्वारा उस प्रकार की स्थितियों के विश्लेषण को स्वीकार नहीं करते। दूसरी ओर, यदि विश्वास अथवा चेतना इस प्रकार की भूमिका निभाते हैं कि वे पूर्ण रूप से स्थिति को रचते हैं, तब भी हम किसी सार्थक रूप में उनका अध्ययन नहीं कर पाते। इन दो ध्रुवों के बीच में, तब, सामाजिक विज्ञानों के द्वारा अध्ययन किया गया जगत् अवस्थित होगा। यदि हम 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग उस ध्रुव के लिये करें जो चेतना से कम से कम संभव रूप में आश्चर्य एवं अप्रभावित रहता है, हम शुद्ध कल्पना के जगत् 'पद' का चयन उसे निर्दिष्ट करने के लिये कर सकते हैं जिसे चेतना उस तात्विक सत् के रूप में रचती है जिस पर वह मनन अथवा विचार करती है।

द्वितीय ध्रुव के बारे में मरटॅन की जो भी प्रतिक्रिया हो, वह प्रथम ध्रुव को अस्वीकार नहीं कर सकता जो सामाजिक विज्ञानों द्वारा अध्ययन के जगत् से भेद रखता है, क्योंकि उसी आधार पर ही 'स्वपूरित पूर्वकथन' का उसका विश्लेषण अवलम्बित है। उसका विश्लेषण, तो भी, शायद गलत दिशा में चला गया कारण यह कि वह कुछ प्रासंगिक प्रश्नों को उठाने में असफल रहा। उदाहरणतः, उसने स्वयं से यह नहीं पूछा कि वह स्थिति, जिसके विषय में *वर्तमान* परिभाषा असत्य सिद्ध होती है, वह स्वयं में किसी *अतीत* की परिभाषा का सृजन तो नहीं! कारण, यदि हम एक बार इस संभावना को स्वीकारते हैं कि कोई भी वास्तविक रूप से प्रचलित परिस्थिति स्वयं में किसी अन्य *अतीत* की स्थिति की *असत्य* परिभाषा का परिणाम है (एवं स्वपूरित पूर्वकथन के विचार में वह अनिवार्यतः अनुस्यूत है), तब जहाँ इस तथ्य के निहितार्थ पर विचार करने का मार्ग खुल जाता है कि *वर्तमान* में *सत्य* प्रतिज्ञप्ति के द्वारा जो वर्णित किया जाता है वह इस बात का परिणाम है कि अतीत में किसी 'असत्य' प्रतिज्ञप्ति को 'सत्य' मान लिया गया था। प्रतिज्ञप्ति का सत्य जो वर्तमान वास्तविकता का वर्णन करती है, अतः एक

तात्विक/अनिवार्य अर्थ में, उस 'असत्य' प्रतिज्ञप्ति के आकस्मिक तथ्य पर आश्रित होती है जो अतीत में 'सत्य' रूप में मान ली गई थी। लेकिन विश्वासों के परिणाम होते हैं, इसलिये नहीं कि वे असत्य हैं वरन इस कारण कि वे विश्वास हैं। अत: हमारा सामाजिक यथार्थ जो आज है वह उस न खत्म होने वाले विश्वासों की कडी का परिणाम है जो सत्य एवं असत्य दोनों है। अत:, सामाजिक यथार्थ के निर्धारक तत्व की भूमिका के रूप में यह प्रश्न कि मेरा विश्वास सत्य है या असत्य, अप्रासंगिक हो जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मरटॅन दो पूर्व धारणाओं के कारण यह देखने से वंचित रहा। प्रथम, तो यह कि वह यह निहित रूप से मानता प्रतीत होता है कि 'मानवीय स्वभाव' (जो कोई भी इसका अर्थ हो) स्वयं अपने में अनिवार्य रूप से शुभ है एवं समस्त अशुभ एवं कठिनाइयाँ जो समाज एवं मनुष्यों से हैं उसका कारण स्थितियों की 'असत्य' परिभाषा है जो मनुष्यों के 'भय' से उत्पन्न होती है।[1] इसी के अनुरूप उसकी द्वितीय मान्यता है कि 'उपयुक्त संस्थागत एवं प्रशासनिक अवस्थाएँ' सदैव एक चाल (trick) चलती हैं एवं इस बात की कमी ही समाज एवं मनुष्य की समस्त बुराइयों के लिये उत्तरदायी है।

उनकी वैधता एक तरफ करके ऐसा प्रतीत होता है कि समाजशास्त्रियों में इन विश्वासों के मानने की प्रवृत्ति है, वह चाहे मार्क्सवादी हो या अन्य हो, उदाहरणार्थ मरटॅन की युक्ति है कि ***'स्वपूरित' भविष्य कथन, जिसके द्वारा आशंकाएँ यथार्थ सत् में परिवर्तित हो जाती हैं केवल वहीं सक्रिय होती हैं जहाँ भली-भाँति विचारित संस्थागत नियन्त्रण का अभाव होता है।*** (P. 436) Merton इस युक्ति को इतनी महत्ता देता है कि वह इसे सोच समझ कर *रेखांकित करता* है ताकि कोई इसकी सार्थकता को नजर अन्दाज न कर दे। तो भी थोड़ा सा विचार यह दिखाने में पर्याप्त है कि 'आशायें' एवं उसके साथ 'आशंकाएँ' स्वपूरित भविष्य कथन के द्वारा यथार्थ में अनुदित की जा सकती हैं अथवा यह कि विचारयुक्त संस्थागत नियन्त्रण शंकाओं को वास्तविकता में परिवर्तित करने को रोकने में अनिवार्यत: प्रतिफलित नहीं होता। संस्थागत नियन्त्रण स्वयं प्रभावी क्रियात्मकता हेतु विश्वासों के तन्त्र पर आश्रित होते हैं। साथ ही जबकि और यदि किसी हद तक विचारयुक्त संस्थागत नियन्त्रण स्वपूरित भविष्य कथन जैसी घटनाओं द्वारा उत्पन्न अनियमितताओं को किसी सीमा में दूर भी कर दें तब भी वह पूर्णतया उसका निराकरण नहीं कर सकता।

1. मरटॅन अपरिवर्तनीय मानवीय स्वभाव के विचार को महत्व नहीं देता (पृ. ४३६) लेकिन तब विश्वास के सत्य व असत्य होने का प्रश्न उस रूप व दिशा के सन्दर्भ में अप्रासंगिक हो जाता है जो हम चाहते हैं कि मानवीय यथार्थ ग्रहण करे। यहाँ पर भी हमारे सम्मुख अतीत के चयन का प्रश्न होता है जो उसमें बाधक अथवा सहायक होता है जिसमें हम उसे वर्तमान में रूपान्तरित करना चाहते हैं।

मरटॅन की दूसरी मान्यता कि मानवीय स्वभाव अन्तत: शुभ है, जब तक वह स्वपूरित भविष्य कथन से उत्पन्न आशंका से विचलित नहीं होता, चुनौती दी जा सकती है। वह लिखता है, 'जातीय' (Ethnic) पूर्वाग्रह नष्ट होते हैं लेकिन धीमे-धीमे (P. 436) लेकिन क्या सभी जातीय पूर्वाग्रह केवल पूर्वाग्रह हैं? क्या वहाँ कोई प्रागनुभविक अनिवार्यता है कि जातीय भिन्नतायें केवल भौतिक विशेषताओं तक सीमित हैं। क्या सांस्कृतिक भिन्नताएँ स्वयं के सांस्कृतिक समुदाय के बारे में ***अन्यों*** के विश्वासों के परिणाम मात्र हैं? अथवा, क्या मरटॅन इस कारणता को केवल उन भिन्नताओं तक सीमित मानेगा जो अन्य द्वारा अवांछनीय मानी जाती हैं? यह एक अच्छा नैतिक सूत्र विषय हो सकता है कि अन्यों में जो अवांछनीय विशेषतायें स्वीकारी गयी हैं उन्हें बाहरी शक्तियों के परिणाम रूप माना जाय, लेकिन यह जो मानना कठिन है कि वह अच्छा विज्ञान भी है। यहाँ तक कि नैतिक रूप से इस प्रकाश में दूसरों में कमियाँ देखना वांछनीय है लेकिन ऐसा अपने विषय में करना नाशकारी होगा! दूसरी ओर, यदि सांस्कृतिक भिन्नताएँ आंशिक रूप से भी उसका परिणाम हैं जो कोई लोग स्वयं के बारे में मानते हैं, तब उन्हें 'पूर्वाग्रह' कहना अर्थहीन होगा जब तक स्वयं के बारे में पूर्वाग्रह न मानें। उस अवस्था में, 'पूर्वाग्रहों' एवं 'आदर्शों' के बीच क्या भेद होगा उसकी कल्पना करना कठिन है। लेकिन 'पूर्वाग्रह' हो या 'आदर्श', उनमें परस्पर विरोध आ सकता है।

यह दो पूर्व मान्यताएँ परस्पर एक अन्य गहरी मान्यता से सम्बन्धित हैं जो मरटॅन ने निहित रूप में मान ली है। वह यह मानता प्रतीत होता है कि केवल असत्य विश्वास मनुष्य एवं समाज में अशुभ को उत्पन्न करते हैं क्योंकि वो असत्य हैं। दूसरी ओर, सत्य विश्वास, उसके मत में, केवल शुभ को ही उत्पन्न करते हैं। ऐसा अनिवार्यत: क्यों होता है इसकी उसने कहीं परीक्षा नहीं की। लगता है ज्ञानात्मक सत्य एवं नैतिक शुभ के बीच एकता को मान लिया गया है। यदि इस बात को वह खुले में लाता तो यह देख पाता कि महत्त्वपूर्ण प्रश्न सम्बन्धित विश्वास की सत्यता व असत्यता से सम्बन्धित न होकर सामाजिक वास्तविकता से सम्बन्धित होता है, जिसे वह मानवीय कर्म द्वारा उत्पन्न करता है एवं, एक अन्य गहरे स्तर पर विश्वास एवं सामाजिक यथार्थ, उसके समस्त प्रकारों में एवं उसके समस्त रूपों के बीच सम्बन्ध की ओर भी इंगित करता है।

मरटॅन द्वारा आरोपित सीमाओं को हटाकर, स्वपूरित भविष्य कथन की घटना तब, सामाजिक यथार्थ के रूप एवं 'प्राकृतिक विज्ञानों' से उसके आत्यन्तिक भेद में अध्ययन के विषय के बीच आत्यन्तिक भेद की कुंजी है। चेतना, विश्वास, आदर्श, कल्पनायें, पूर्वाग्रह, मूल्य, जिस किसी भी पद का प्रयोग हेतु कोई चयन करें, वह सामाजिक विज्ञानों में अध्येय यथार्थ के सत् का अनिवार्य घटक है। जो कुछ भी यथार्थ के रूप में विचारा जाता है वही यथार्थ भी हो जाता है। चिन्तन, मानना, सोचना, कल्पना करना, विश्वास करना आदि क्रियायें उसे रूपायित

करती हैं जिसके बारे में विचारा, माना, सोचा, कल्पना एवं विश्वास किया जाता है। ऐसी स्थितियों में प्राक्कल्पना बनाना या प्रारूप का निर्माण करने की क्रिया, प्राक्कल्पना अथवा प्रारूप के वास्तविकता में बदलने के संभव परिणामों के प्रति तटस्थ नहीं होता, केवल इसलिये कि किसी व्यक्ति ने प्राक्कल्पना को विचारा है या प्रारूप बनाया है। इसका खतरा दूरस्थ अथवा दूर की कौडी हो सकता है लेकिन यदि यह संभव है तो इसका ध्यान किया जाना और इसके निहित किसी न किसी रूप में कुछ किया जाना आवश्यक है। सामाजिक विज्ञान में अध्येय घटनाओं की विशिष्ट व्यावर्तक विशेषता के निहितार्थ एवं परिणाम तथा उनके द्वारा मनुष्य के ज्ञानात्मक क्रिया व्यापारों को प्रस्तुत चुनौतियाँ वास्तव में विशाल हैं। लेकिन इसके पहले कि उन सब की खोजबीन हो, उन्हें रूपायित किया जाय, और सामना किया जाय, समाज वैज्ञानिक को पहले उस स्थिति का बोध होना चाहिये तथा उसकी विशिष्टता को स्वीकार करना चाहिये जिसमें वह अपने को पाता है। स्वपूरित भविष्य कथन की घटना इस वैशिष्ट्य को इस केन्द्रीय रूप में रेखांकित करती है कि समाज वैज्ञानिकों द्वारा इस पर किया गया चिन्तन परिवर्तन के लिये उस अर्कमेडी दृष्टिबिन्दु को प्राप्त करा सके जिसकी समाज विज्ञानों को आज अत्यन्त आवश्यकता है।

Merton, Robert, K. 1957, Social Theory and Social Structure Revised Edition N.Y. Free Press.

(अनुवाद : डॉ. योगेश गुप्ता)

❑

क्या गोपियाँ कृष्ण को सचमुच प्रेम करती थीं? भारतीय परम्परा में भक्ति-पुरुषार्थ

एक पुरुषार्थ के रूप में भक्ति को भारतीय परम्परा में जिस आदर्श की खोज के रूप में देखा गया है, गोपियाँ उसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं। गोपियों में भी विशेष रूप से राधा में यह आदर्श अपनी पूर्णता में चरितार्थ होता है। हालांकि आदर्श की यह चरितार्थता स्पष्टत: दो भागों में विभाजित है, पहला जब कृष्ण उपस्थित हैं, और दूसरा जब वे प्रेम का शाश्वत आवास छोड़कर चले जाते हैं और गोपियों को उनके बगैर रहना पड़ता है। पहली शाश्वत क्रीड़ा-भूमि है, दूसरी शाश्वत स्मृति की भूमि है जो पहली की पुनर्रचना करती है और उसे दुबारा से जीती है। पहली दशा में कृष्ण गोपियों को पाने की उतनी ही चेष्टा करते हैं जितनी गोपियाँ उनको पाने की करती हैं, भले ही उपलब्ध पाठ इसे स्पष्ट नहीं करते कि दोनों पक्षों की यह चाहना समान, अन्योन्य और पूरक है या नहीं है। लेकिन पहली दशा में इसको लेकर भले ही कुछ सन्देह हो, दूसरी में इसकी अनुपस्थिति को लेकर बमुश्किल ही सन्देह किया जा सकता है। यहाँ केवल गोपियाँ कृष्ण के प्रति लालायित होती हैं, स्वयं कृष्ण उन्हें बमुश्किल ही कभी याद करते हैं, उनके साथ बिताये गये आह्लादपूर्ण दिनों को तो और भी कम।

तथापि, भले ही गोपियों को कृष्ण के साथ बिताये गये दिनों की स्मृति को शाश्वत रूप से 'जीते' हुए चित्रित किया गया है, वे कृष्ण को दुबारा तलाशने का जरा भी उद्यम नहीं करतीं, यहाँ तक कि वे यह भी जानने का प्रयत्न नहीं करतीं कि वे कहाँ और किस दशा में हैं।

हालांकि ये सिर्फ गोपियाँ ही नहीं हैं जो कृष्ण के बारे में जानने को लेकर पूरी तरह से उदासीन हैं या उनसे मिलने का कोई यत्न नहीं करतीं, इसके बावजूद कि वे सारे समय उनको याद करती रहती हैं, बल्कि उनकी स्मृति में ही जीवन बिता रही हैं। नन्द और यशोदा जिन्होंने उन्हें पाला-पोसा है और जिनके साथ उन्होंने अपना पूरा बचपन बिताया है, वे भी यही करते हैं। इसका कोई साक्ष्य नहीं है कि यशोदा या नन्द ने कृष्ण से मिलने का कोई यत्न किया हो या उनके बारे में कुछ भी जानने की कभी कोई कोशिश की हो। माता-पिता आमतौर से अपने बच्चों को